राम मनोहर लोहिया स्मारक व्याख्यान - ग्वालियर 23.09.2015

लोकतंत्र और विसम्मति

प्रथम राम मनोहर लोहिया व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किए जाने को मैं अपना सौभाग्य मानता हूं। मैं आईटीएम विश्वविद्यालय, ग्वालियर के परिसर में आने और यहां मौजूद शैक्षिक समुदाय से बातचीत करने का अवसर पाकर बहुत खुश हूं।

कोई भी विशेषण राम मनोहर लोहिया जी का पूरी तरह से निरूपण नहीं कर सकता है। वे दो दशकों से भी ज्यादा समय तक भारतीय राजनीति के चक्रवात रहे। वे एक विद्वान व्यक्ति थे और मानव स्वतंत्रता, न्याय और गरिमा से जुड़े सभी विषयों में उनकी अत्यधिक रूचि थी। उनके कानूनी ज्ञान की पहचान किसी और से नहीं वरन् उस ब्रिटिश मजिस्ट्रेट से मिली, जो उन्हें 1939 के युद्ध प्रयास के विरूद्ध उपदेश देने की कोशिश कर रहे थे। इससे पहले नवंबर 1936 में वे जवाहरलाल नेहरू से उस समय जुड़े जब नेहरू जी ने रवींद्रनाथ टैगोर की अध्यक्षता में 'इंडियन सिविल लिवर्टीज यूनियन' (आईसीएलयू) की स्थापना की। उस अवसर पर नागरिक स्वतंत्रता की अवधारणा पर बोलते हुए लोहिया जी ने कहा था, "यह राज्य के प्राधिकार को स्पष्ट सीमाओं में परिभाषित करती है। राज्य का कार्य इन स्वतंत्रताओं को संरक्षण प्रदान करना है। लेकिन राज्य सामान्यतया इस कार्य को नापसंद करते हैं और ठीक इसके विपरीत कार्य करते हैं। नागरिक स्वतंत्रता की अवधारणा से ओत प्रोत जनता राज्य को स्पष्ट एवं सुपरिभाषित सीमाओं के भीतर कार्य करने के लिए बाध्य करती है।"[1]

डॉ. लोहिया एक आदर्शवादी व्यक्ति थे और शुरूआती दौर में उनके कुछ आदर्श लोग थे; जैसे महात्मा गांधी ने उनके "स्वप्न", नेहरू ने उनकी "इच्छा" और सुभाष बोस ने उनके 'कार्य' का प्रतिनिधित्व किया।[2] इसी आदर्शवाद ने उन्हें विश्व नेताओं के समक्ष चार सूत्री कार्यक्रम के प्रस्ताव हेतु गांधी जी से अनुरोध करने के लिए उन्मुख किया: (1) एक देश द्वारा दूसरे देश में किए गए पिछले समस्त निवेशों को रद्द करना (2) पूरी दुनिया में किसी भी व्यक्ति का बिना रोक-टोक आवागमन और वास करने का अधिकार (3) विश्व और संविधान सभाओं के समस्त लोगों और राष्ट्रों की राजनीतिक स्वतंत्रता; और (4) किसी तरह की विश्व नागरिकता।[3]

गांधी जी उदार हृदय थे, परंतु उन्होंने इस सुझाव पर कोई कार्रवाई नहीं की।

लोहिया समाजवादी थे और साम्यवाद विरोधी के तौर पर जाने जाते थे। वे उन गिने-चुने लोगों में से थे, जिन्होंने समाजवाद की विचारधारा को यूरोप से गैर-यूरोपीय सांस्कृतिक क्षेत्रों तक स्थानांतरित करने की कठिनाई के साथ संघर्ष किया। वे अनेक मुद्दों पर कांग्रेसी नेतृत्व से मतभेद रखते थे।[4] इसमें 1947 के विभाजन के निर्णय को स्वीकार करना शामिल है और उन्होंने 'दि गिल्टी मेन ऑफ इंडियाज पार्टिशन' नाम से एक विस्तृत लेख लिखा। जाति व्यवस्था और भारतीय जनमानस को इसके फलस्वरूप होने वाले नुकसान के प्रति उनका एक स्पष्ट दृष्टिकोण था। एक अन्य लेख 'दि कास्ट

सिस्टम' में उन्होंने निष्कपटता से, तथापि आक्रामक रूप से इसकी अभिव्यक्त की। साथ ही, वे इसके तरीकों में परिवर्तन के बारे में यथार्थवादी थे, जैसा कि निम्नलिखित पैरा से स्पष्ट है:

"जाति पर चर्चा करने से रोकना भारतीय हालात की एकमात्र महत्वपूर्ण वास्तविकता की ओर से आंखें मूंदना है। कोई भी व्यक्ति इच्छा करने मात्र से जाति को समाप्त नहीं कर सकता है। 5000 वर्ष पहले की योग्यता चयन किया जा रहा है। कतिपय जातियां विशेष रूप से प्रतिभाशाली बन गई हैं। अतः उदाहरण के तौर पर, मारवाड़ी बनिया उद्योग और वित्त के मामले में और सारस्वत ब्राह्मण बौद्धिक गतिविधियों के मामले में शीर्ष पर हैं। इन जातियों के साथ प्रतिस्पर्धा की बात करना तब तक असंगत हैं जब तक कि दूसरों को बेहतर अवसर और विशेषाधिकार नहीं दिए जाते हैं। योग्यताओं के चयन की संकुचित प्रवृत्ति को अब समग्रता में विस्तार दिया जाना चाहिए और यह तभी हो सकता है, यदि दो अथवा तीन अथवा चार दशक की पिछड़ी जातियों और समुदायों को बेहतर अवसर प्रदान किए जाएं। यहां मुझे रोजगार और शिक्षा के अवसरों के बीच पार्थक्य करना है। किसी भी व्यक्ति को किसी शैक्षणिक संस्थान के प्रवेश द्वार से जाति के कारण दूर नहीं कर दिया जाना चाहिए। दूसरी ओर, ऐसे लोगों को ऐसे रोजगार से, जिस पर उनका विशेषाधिकार रहा है, हटाया जाना समाज के लिए पूरी तरह औचित्यपूर्ण रहेगा। उन्हें अन्यत्र अपनी जीविकोपार्जन करने दें। उनके समाज को ही उन्हें आवश्यक शैक्षणिक योग्यता से सज्जित करना अपेक्षित है।"[5]

प्रारंभिक वर्षों की अतिप्रशंसा के बावजूद, 1940 के दशक के शुरूआती वर्षों के बाद नेहरू और उनकी नीतियों के संबंध में लोहिया की आलोचना प्रखर हो गई थी। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के सिद्धांतों के संबंध में उनकी स्पष्टवादिता के फलस्वरूप उन्होंने पचास के दशक में प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का गठन किया जैसा कि वे इसके बारे में बताते हैं "यह कांग्रेस पार्टी से उतनी ही दूर है, जितना कि साम्यवादी और सांप्रदायिक दलों से दूर है।"[6] शासन के संसदीय स्वरूप के बारे में उनका सूक्ष्म भेदयुक्त दृष्टिकोण था और प्रत्यक्ष जन भागीदारी के विकल्प के साथ साथ उन्होंने इसकी वकालत की। 1955 में उन्होंने अपने पार्टी के सहयोगियों से कहा कि बगावत के रास्ते के बजाय, उन्हें जहां जरूरी हो, संवैधानिक तरीके और नागरिक प्रतिरोध के संतुलित मिश्रण, को चुनना चाहिए।[7]

लोहिया द्वारा किसानों से संबंधित मामलों के समर्थन ने वर्ष 1954 में व्यावहारिक आकार धारण किया जब उत्तर प्रदेश सरकार ने नहरों से किसानों को की जा रही जल आपूर्ति के लिए सिंचाई दरों में वृद्धि कर दी। उस क्षेत्र में अपने भाषणों में उन्होंने किसानों से सरकार को "बढ़ी हुई सिंचाई दरों" का भुगतान न करने के लिए उकसाया। वे राज्य सरकार के पुरज़ोर आलोचक थे। उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और उत्तर प्रदेश विशेष शक्तियां अधिनियम (1932 का संख्याक 14) की धारा 3 के तहत आरोपी बनाया गया। उच्च न्यायालय में प्रस्तुत एक बंदी प्रत्यक्षीकरण याचिका में उन्होंने यह तर्क दिया कि यह अधिनियम और विशेषकर उसकी धारा 3, अनुच्छेद 19 के उपबंधों से असंगत होने के कारण संविधान के अनुच्छेद 13 के तहत निरसित हो जाती है। न्यायालय ने अपने निर्णय में दो प्रश्नों पर विचार किया : सर्वप्रथम यह कि अधिनियम की धारा 3 जो किसी व्यक्ति को भू-राजस्व की बकाया

राशि के रूप में वसूली योग्य देय राशि का भुगतान नहीं करने के लिए किसी वर्ग विशेष के व्यक्तियों को अपने वचन से उकसाने के लिए दण्डनीय करार देता है, संविधान के अनुच्छेद 19(1) (क) से असंगत है और दूसरी बात यह कि इस धारा द्वारा अधिरोपित प्रतिबंध लोक व्यवस्था के हित में नहीं है। न्यायालय ने उन्हें रिहा करने और खर्चे का भुगतान करने का आदेश दिया।[8]

पचास के संपूर्ण दशक तथा साठ के दशक के पूर्वार्द्ध के वर्षों के दौरान सरकारी नीतियों के प्रति लोहिया का आलोचनात्मक रूख कठोर बना रहा। वे अगस्त, 1963 में लोक सभा के लिए निर्वाचित हुए और कुछ दिनों के पश्चात् एक स्थगन प्रस्ताव के दौरान सरकार की नीतियों और रूख के प्रति असंतोष व्यक्त करते हुए उन्होंने एक अत्यंत तीक्ष्ण संकेंद्रित भाषण दिया। उन्होंने कुछ पुरानी उक्तियों का भी उपयोग किया। उन्होंने कहा "संसद स्वामी है जबकि प्रधानमंत्री उसका सेवक है। सेवक को अपने स्वामी से विनम्रता एवं शिष्टतापूर्वक व्यवहार करना पड़ता है"। उन्होंने आंतरिक और विदेश नीति में निहित खामियों के मुद्दों पर पुरजोर रूप से अपने विचार व्यक्त करने के लिए संसदीय मंच का उपयोग किया। वर्ष 1969 में राष्ट्रपति के चुनाव के समय, जब वे भारत के पूर्व मुख्य न्यायाधीश सुब्बा राव के कट्टर समर्थक थे, उन्होंने युवाओं से पांच सिद्धांतों सामाजिक एकता, सभी विपक्षी दलों की एकता, संयुक्त प्रदर्शन, एकल प्रयोजन मंच तथा कड़ी मेहनत पर केन्द्रित राजनीति पर विचार करने का आग्रह किया।[9]

राम मनोहर लोहिया की राजनैतिक विरासत तथा उससे सृजित प्रवर्तन आज भी सुस्पष्ट रूप से विद्यमान है और यह प्रवर्तन विगत दो से अधिक दशकों से रहा है। जैसा कि उनके एक तेजस्वी विद्वान-कार्यकर्ता अनुयायी ने कहा है "आज राजनीति जगत में, लोहिया को अन्य पिछड़ा वर्ग के लिए आरक्षण के प्रवर्तक; उत्तर भारत की राजनीति में पिछड़े वर्गों के हिमायती; गैर-कांग्रेसवाद के जनक; नेहरू-गांधी परिवार के अटल आलोचक; तथा अंग्रेज विरोधी राजनीति के लिए उत्तरदायी व्यक्ति के रूप में याद किया जाता है।"[10]

इस विशद समाहार पर टिप्पणी करना अनावश्यक है। समय और अनुभव ही यह बता पाएंगे कि क्या लोहिया वर्तमान में लागू सकारात्मक कार्यवाही की कार्यनीतियों में और अधिक लोचशीलता का समावेशन कर पाते। इस दोपहर मेरा उद्देश्य डा. लोहिया द्वारा लोकतंत्र में साकार किए गए विसम्मति के सिद्धांत तथा विश्वभर में कहीं भी कार्यशील लोकतंत्रों की निरंतर सफलता को बनाए रखने के लिए उसकी प्रासंगिकता पर ध्यान केंद्रित करना है ।

II

वर्ष 1950 में, भारत की जनता ने स्वयं एक संविधान का निर्माण किया था जिसमें सभी नागरिकों के लिए अन्य बातों के साथ-साथ, "विचार, अभिव्यक्ति, आस्था, धर्म तथा उपासना की स्वतंत्रता" का वादा किया गया है। इस वादे को अनुच्छेद 19 तथा 25 द्वारा प्रत्याभूत विशिष्ट अधिकारों और उनके कार्यान्वयन को सुनिश्चित करने वाले संबद्ध ढांचे द्वारा एक मूर्त रूप प्रदान किया गया था। विगत साढ़े छह दशक उनके वास्तविकीकरण की पद्धति और सीमा के गवाह रहे हैं।

संविधान का निर्माण शून्य से नहीं हुआ था। स्वतंत्रता आंदोलन और इसमें स्थापित मूल्य उसके अग्रगामी घटनाक्रम रहे हैं। ये औपचारिक रूप से 22 जनवरी, 1947 के 'ऑब्जेक्टिव्स रेजोल्यूशन' में संपुटित हैं। इसी समय संविधान निर्माता या उनमें से कुछ व्यक्ति खतरों से अवगत नहीं थे। अम्बेडकर ने संविधान सभा में संविधान का मसौदा तैयार करने की प्रक्रिया समाप्त होने पर दिए गए अपने संभाषण में आसन्न "विरोधाभासों का जीवन" के संबंध में चेतावनी दी थी।

अम्बेडकर ने राजनैतिक समानता और सामाजिक-आर्थिक असमानता के बीच की दरार के कारण राजनैतिक लोकतंत्र के समक्ष मौजूद खतरे का जिक्र किया था। कुछ दशकों बाद, दो विख्यात समाजविज्ञानियों ने इसके कुछ अंतर्निहित पहलुओं पर टिप्पणी की थी। उन्होंने इतिहास की दो प्रतिस्पर्धी धाराओं "समुदायों के सह अस्तित्व से संबंधित सभ्यता का इतिहास और जातीय प्रतिद्वंन्दिता और संघर्ष का राजनैतिक इतिहास" की पृष्ठभूमि का उल्लेख किया। उन्होंने कहा, "समाज में एकरूपता स्थापित करने के लिए राज्य द्वारा प्रतिरोधी शक्ति के प्रयोग और राज्य के ऐसे हमलों का प्रतिरोध करते हुए राजनीतिक-सांस्कृतिक इकाइयों द्वारा प्रतिहिंसा, आज, भारत की राजनैतिक व्यवस्था की समस्या है।" उन्होंने सवाल उठाया,"क्या लोकप्रिय आंदोलनों द्वारा उदार राज्य के संस्थागत दंभ का कारगर ढंग से प्रतिकार किया जा सकता है," और अनुभव किया कि भारत में चुनौती यह है कि "परिवर्तनकारी, लोकतांत्रिक आंदोलनों के दायरों की, जिनमें वे खुद को संलग्न महसूस करते हैं, शिथिल सीमाओं की खोज की जाए और उन पर जोर दिया जाए। इस अर्थ में, इन आंदोलनों के लिए यह चुनौती बौद्धिक भी है और राजनैतिक भी"।[11]

प्रायः सुधार के प्रयासों की अभिव्यक्ति, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और उसकी सहवर्ती, विसम्मति की अवधारणा से जुड़े दावों के जरिए होती है। असहमति की अवधारणा में आपत्ति करने, प्रतिबंध करने, विरोध करने, यहां तक कि प्रतिरोध करने का लोकतांत्रिक अधिकार भी शामिल है। कुल मिलाकर इसे किसी व्यक्ति, या समूह में किसी स्थापित प्राधिकार - सामाजिक, सांस्कृतिक या सरकारी से सहयोग की अनिच्छा के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। उस अर्थ में इसे आलोचनात्मक सोच से भी जोड़ा जाता है जैसा कि अल्बर्ट आइंस्टाइन ने कहा था, "सत्ता के प्रति अंधविश्वास, सच का सबसे बड़ा शत्रु है"।

पर्याप्त न्यायसंगत रूप से यह देखा गया है कि मानव प्रगति का इतिहास सुविज्ञ विसम्मति का इतिहास है। इस विसम्मति के, नैतिक आपत्ति से लेकर सविनय या क्रांतिकारी अवज्ञा तक, कई रूप हो सकते हैं। हमारे समाज सहित, किसी भी लोकतांत्रिक समाज में, मतभेद को स्वीकारने की आवश्यकता बहुलता का एक अनिवार्य घटक है, इस अर्थ में, विसम्मति का अधिकार विसम्मति का कर्त्तव्य भी बन जाता है क्योंकि विसम्मति के दमन की युक्तियां लोकतांत्रिक भावना को क्षीण करने की दिशा में प्रवृत्त होती हैं। वृहत्तर अर्थ में, विसम्मति की अभिव्यक्ति ऐसी गलतियों को रोकने में भूमिका निभा सकती है और निभाती भी है जो "सामाजिक निपातीकरण" अथवा "सामूहिक ध्रुवीकरण" से उत्पन्न हो सकती हैं। ये सामूहिक ध्रुवीकरण विचारों की खुली अभिव्यक्ति अथवा सूचनाओं के आदान-प्रदान के निवारक के रूप में कार्य करता है।[12]

अधिकार के रूप में विसम्मति को भारत के उच्चतम न्यायालय द्वारा संविधान के अनुच्छेद 19(1)(क) द्वारा एक मौलिक अधिकार के तौर पर प्रत्याभूत वाक-स्वातंत्र्य के अधिकार के एक पहलू के रूप में मान्यता दी गई है। न्यायालय ने यह समुक्ति की है कि " वाक-स्वातंत्र्य के निर्बंधनों को अनिवार्यतः संकीर्णतम संभव अर्थों में वर्णित किया जाना चाहिए" और यह कि अनुच्छेद 19 (2) का परंतुक इस अर्थ में न्यायोचित है कि इस पर निर्बंधन 'तर्कसंगत' होने चाहिएं और मनमाने, असंगत और अनानुपातिक नहीं होने चाहिएं।[13]

वैश्वीकरण की ओर बढ़ती हुई आज की दुनिया में और जब अधिकांश देशों में लोकतांत्रिक व्यवस्था है, विसम्मति की अभिव्यक्ति और इसी प्रकार उसे हाशिए पर डालने और उसे दबाए जाने में सिविल सोसायटी की भूमिका पर विस्तार से चर्चा होती रही है और हो रही है ।

III

विधि में बताई गई बिल्कुल स्पष्ट स्थिति के बावजूद, वास्तविक व्यवहार में विसम्मति के अधिकार पर प्रतिबंध के बारे में सिविल सोसायटी की चिंताओं को सशक्त रूप से व्यक्त किया जाता है। कुछ समय पहले हमारे एक प्रतिष्ठित शिक्षाविद ने लिखा कि "सतही तौर पर", "भारतीय लोकतंत्र में ध्वनियों का एक कर्कश स्वर है। परंतु यदि आप सतह को कुरेदें तो भारत में विसम्मति खतरों और पाबंदियों की अत्यंत जटिल भूल-भुलैया में संघर्ष कर रही है।" गैर-सरकारी संगठनों (एनजीओ) के लिए तत्कालीन जानकारी देने संबंधी नई अपेक्षाओं का उल्लेख करते हुए, उन्होंने कहाः

> "असहमति और विसम्मति के लिए इस विचार से अधिक घातक बात कोई और नहीं हो सकती है कि उन सभी बातों को अव्यक्त संकेतात्मक बातें या बाह्य कार्यसूची में सीमित किया जा सकता है। यह विचार कि कोई भी व्यक्ति जो मेरे विचारों से असहमत है, किसी अन्य व्यक्ति के विध्वंसकारी विचारों का वाहक है, कुछ हद तक, नितांत अलोकतांत्रिक है। इससे वास्तविक सद्भावपूर्ण असहमति की संभावना समाप्त हो जाती है। यह नागरिकों को समान आदर से वंचित करता है क्योंकि यह आपको उनके विचारों को गंभीरता से लेने से मुक्त कर देता है। एक बार यदि हमने स्रोत का खंडन कर दिया तो हमें उस दावे की विषय-वस्तु पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं होगी....इससे विसम्मति के लिए गंभीर परिणाम होंगे।"[14]

इसे 2012 में लिखा गया था। यह एक विवादास्पद विषय है कि, लेविएथन के संबंध में पेवलोवियन के विचारों को देखते हुए, क्या तब से परिस्थितियों में बेहतरी के लिए कोई बदलाव हुआ होगा। सुविज्ञ टिप्पणियां इसके विपरीत संकेत करती हैं।[15]

गणतंत्र के प्रत्येक नागरिक के पास निर्णय लेने का अधिकार और कर्त्तव्य है। इसी बात में विसम्मति की अपरिहार्यता निहित है।

जय हिन्द।

.....

1. अनुपमा राय की पुस्तक ह्यूमन राइट्स एंड पीसः आइडियाज लॉज, इंस्टिट्यूशन्स एंड मूवमेंट (उज्ज्वल कुमार सिंह द्वारा संपादित, नई दिल्ली 2009) में जैन, उज्ज्वल कुमार 'राम मनोहर लोहिया'ज कन्सेप्ट ऑफ सिविल लिवर्टीज पृष्ठ 210

2. केलकर, इंदुमती, डा. राम मनोहर लोहियाः हिज लाइफ एंड फिलोसोफी (नई दिल्ली, 2009) पृष्ठ 60
3. पूर्वोक्त पृष्ठ 73
4. टोलपाडी, राजाराम, 'कंटेक्स्ट, डिसकोर्स एंड विजन ऑफ लोहियाज सोशलिज्म' - इकोनोमिक एंड पोलिटकल वीकली (ईपीडब्ल्यू), खंड 14 सं. 40, 2 अक्तूबर, 2010 पृष्ठ 71-77
5. लोहिया,राम मनोहरः 'द कास्ट सिस्टम' (दिसम्बर 1961) - कोलेक्टिड वर्क्स ऑफ डा. राम मनोहर लोहिया (हैदराबाद 2011) अंक 2, पृष्ठ 322
6. पूर्वोक्त पृष्ठ 217
7. शंकर, बी.एल. एंड वलेरियन रोडरिग्स. द इंडियन पार्लियमेंटः ए डेमोक्रेसी एट वर्क (नई दिल्ली 2011) पृष्ठ 343, 28 दिसम्बर, 1955 के भाषण का वर्णन
8. एआईआर; एएलएल 193, 1955 सीआरआईएलजे 623 27 अगस्त, 1954 । उच्चतम न्यायालय द्वारा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता संबंधी डा. लोहिया के तर्कों से संबंधित कुछ अन्य मामलों का उल्लेख नीचे उल्लिखित 24 मार्च, 2015 के न्याय निर्णयन के पैरा 22, 33, 34, 88 और 89 में किया गया था।
9. केलकर, देखें पृष्ठ 380-381
10. यादव, योगेन्द्रः 'ऑन रीमेमबरिंग लोहिया'-ईपीडब्ल्यू, पूर्वोक्त, पृष्ठ 47
11. डी.एल. शेठ और आशीष नंदी, द मल्टीवर्स ऑफ डेमोक्रेसी (नई दिल्ली 1996) पृष्ठ-20-23.
12. "सामाजिक निपातीकरण" को "ऐसे व्यापक पैमाने के सामाजिक आंदोलन के रूप में" परिभाषित किया जाता है जिसमें "लोग, अपने अनुयायियों को बहुत प्रभावित करने वाले अग्रणी व्यक्तियों के विश्वासों अथवा कृत्यों के आधार पर कुछ सोचने या करने लगते है।" 'सामूहिक ध्रुवीकरण' तब होता है "जब कोई विचार-विमर्श करने वाला समूह विचार-विमर्श के पश्चात् विचार-विमर्श शुरू करने से पहले अपने औसत सदस्य की राय से कहीं अधिक अतिवादी रवैया अपना ले।" कास आर. सनस्टेनः व्हाई सोसायटीज नीड डिस्सेंट (हार्वर्ड 2003) पृष्ठ 54 और 112.
13. भारत के उच्चतम न्यायालय को रिट याचिका (आपराधिक) 2012 की सं.167 एआईआर 2015...श्रेया सिंघल बनाम भारत संघ, 24 मार्च, 2015
14. मेहता, प्रताप भानुः *'ड्रू नॉट डिसएग्री - एनजीओ पर दोषारोपण करना हमारे लोकतंत्र में विसम्मति के लिए कम होते हुए स्थान को दर्शाता है'* -http://archive.indianexpress.com/story Posted online Feb 29, 2012
15. 'स्ट्रेटेजिज टू क्रेश डिसेंट' - ईपीडब्ल्यू खंड एल सं. 17, 25 अप्रैल, 2015 पृ...'ओपेन इंटिमिडेशन' - ईपीडब्ल्यू खंड एल सं. 29, 18 जुलाई, 2015 पृष्ठ 8